मिलान (इटली)
८ अगस्त, २००४

संदेश संख्या – ६६

मंत्र

''मन्'' + ''त्र'' = मंत्र का अर्थ है – एक ऐसी प्रक्रिया जो मन के परे ले जाय । दुर्भाग्यवश, चिन्ता एवं महत्वाकांक्षा से अशान्त व्यक्ति को उसके मानसिक कैदखाने की सीमा में ही खुश एवं आश्वस्त रखने के लिए आध्यात्मिक मंडी में मंत्रों को उपशामक के रूप में बेचा जाता है । स्वाध्याय के बिना अर्थात् 'स्व' को जाने बिना, मात्र मंत्रोच्चारण अर्थहीन इन्द्रियजनित उत्तेजना और मनोरंजन बन कर रह जाता है । शब्दों की यांत्रिक पुनरावृत्ति चित्तवृत्ति में स्थिरत्व न लाकार केवल जड़त्व लाती है । स्थिर बनाया गया मन स्थिर मन नहीं होता। ईर्ष्या, भय, लालच तथा कुछ पाने की लालसा से प्रेरित होकर किया गया मंत्रोच्चारण वस्तुतः अशिता है । इसलिए प्राचीन मानव प्रज्ञा ने उपनिषदों (जिन्हें वेदान्त भी कहा जाता है और वेदान्त का अर्थ है – ज्ञात के बन्धन से मुक्त होकर बोध के परमानन्द को उपलब्ध होना) में गाया है :–

''उत्तमा सहजावस्था, मध्यमा ध्यानधारणा
जप पाठश्च अधमः, शास्त्रचर्चाधमाधमः ।''

गहरे धार्मिक संदर्भों में (जहाँ धार्मिक मस्तिष्क विश्वास पद्धतियों, धर्मान्धाताओं, अवधारणाओं, निष्कर्षों, मताग्रहों, भ्रांतियों, धारणाओं, विडम्बनाओं, पूर्वाग्रहों, आडम्बरों, अनुकरणों, प्रभावों, विचारों, अवरोधों, गुरु एवं गिरि, पोप एवं परमहंस आदि से पूर्णतया मुक्त हो) धर्मग्रन्थ संबंधी व्याख्या पर वाद–विवाद करना, अधम से भी अधम है । जप (मंत्र के रूप में शब्दों की पुनरावृत्ति) अधम है । योग संबंधी अभ्यास अर्थात् तप और ध्यान की मुद्रायें मध्यम हैं किन्तु सर्वोत्तम है – सहजावस्था, जिसमें केवल आंशिक सुधार नहीं, बल्कि मौलिक परिवर्त्तन सम्भव है । इस अवस्था में, अनुबंधित चेतना अर्थात् चित्तवृत्ति के प्रदूषण के अभाव में शुद्ध समझदारी घटित हो सकती है क्योंकि तब द्वन्द्व, वैचारिक युद्ध एवं अन्य मानसिक आपाधापी के कारण ऊर्जा का क्षय नहीं होता।

संस्कृत शब्दों का उच्चारण शरीर के लिए लाभदायक है और ये निश्चित रूप से समझदारी की ऊर्जा बढ़ाते हैं, परन्तु प्रयोजन पूर्ति हेतु केवल यंत्रवत् उच्चारण से निस्संदेह बचना चाहिए । गुरु द्वारा आपके कान में मंत्र फुसफुसाना और आपको अर्थात् चित्तवृत्ति को पुनरावृत्ति की बाध्यता द्वारा सम्मोहित रखना वस्तुतः अनर्थकारी है । निम्नलिखित ३३ मंत्रों पर मनन के लिए सुझाव दिया जाता है । इसके द्वारा शायद निर्मनावस्था को प्राप्त करना संभव है और मंत्रों का वास्तविक अभिप्राय भी यही है, जैसाकि संदेश के प्रारंभ में ही कहा गया है :–

१. विचार (ऐसा होना चाहिए) दंभ बढ़ाता है । सत्य (जो है) जीवन–ऊर्जा की रक्षा करता है । ''जो है'' का सामना करना (साक्षी–भाव में रहना) ही महत्वपूर्ण है न कि ''ऐसा होना चाहिए'' का निष्पादन करना।

२. एक आध्यात्मिक गुरू को किसी संस्था की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु उसके शिष्यों के आपसी समन्वयन हेतु इसकी आवश्यकता हो सकती है । जब कोई गुरू संस्था बनाना आरम्भ कर देते हैं, तब फिर वे गुरू नहीं, बल्कि एक चालबाज बनकर रह जाते हैं ।

३. ध्यान ''मैं'' के द्वारा, ''मैं'' का और ''मैं'' के लिए नहीं होता । यह तो चैतन्य की जागृति है ।

४. तकनीकि संदर्भों में विकास आवश्यक है परन्तु मानसिक संदर्भों में विलय ही सार है ।

५. 'ईश्वर' का अस्तित्व नहीं है बल्कि अस्तित्व ही ईश्वर है । अनुभवशून्यता दिव्यता है । निर्दोषता अज्ञानता नहीं है।

६. 'ईश्वर' के साथ बातचीत करने की कल्पना या दावा रुग्णता है क्योंकि अस्तित्व के साथ पवित्र–शांति का संबंध ही संभव है ।

७. प्रत्यक्षबोध अस्तित्व के साथ संबंध है जबकि अवधारणा अनुभव के साथ। सत्य अनुभव नहीं बल्कि अस्तित्व है ।

८. विद्रोह नवीनीकरण, पुनर्जीवन, मौलिक परिवर्तन और अन्तर्दृष्टि है जबकि क्रांति पुनर्मूल्यांकन, पुनर्निर्माण, सुनियोजित प्रतिरोध, पूर्व व्यवस्था की परिष्कृत सततता और एक विचार है ।

९. शान्ति, पवित्रता, शुद्धता, उत्तमता, उदारता और कृतज्ञता को सफलता का मापदण्ड बनाने की जरूरत है न कि सत्ता, संग्रह, प्रभुता, चमक–दमक और तुष्टीकरण को ।

१०. मानवजाति में भय एक विध्वंसकारी ऊर्जा है । यह चेतना को निस्तेज कर देता है, विचारों को विकृत कर देता है तथा सभी प्रकार के हास्यास्पद अंधविश्वासों, मताग्रहों एवं विश्वासों को जन्म देता है । मानवीय अनुबंधित चेतना अर्थात् चित्तवृत्ति ही संगठित धर्मों, सम्प्रदायों और पंथो की धर्मशास्त्र आधारित सम्पूर्ण ठगी का आधार है और इसके घटक अवयव हैं–सुरक्षा हेतु लालच, असुरक्षा का भय, विचारों एवं विश्वासों पर निर्भरता और इनसे उत्पन्न सभी तरह की प्रतिस्पर्धा और द्वन्द्व ।

११. प्रार्थना पाने की इच्छा है और यह धार्मिक मताग्रहों को मजबूती प्रदान करती है, जबकि ध्यान प्रशान्ति है जो दिव्यता के प्रबोध का मार्ग प्रशस्त करता है ।

१२. अनुभव द्वैत के आयाम में होता है जबकि प्रत्यबोध अद्वैत है जो चित्तवृत्ति में मौलिक परिवर्तन से ही सम्भव है ।

१३. अहंशून्यता शिथिलता नहीं है बल्कि कर्त्तारहित सक्रियता है । अतः अकर्त्ताभाव की प्रज्ञा अकमण्यता नहीं है ।

१४. अस्तित्व के सामंजस्य में कर्म करना तथा कर्म करने में अकर्त्ता बने रहना क्रिया योग है ।

१५. भावना परिवर्तनशील है, प्रेम नहीं । मन परिवर्तनशील है, जीवन नहीं। अनुबंधन परिवर्तनशील है, समझदारी नहीं । आसक्ति परिवर्तनशील है, करुणा नहीं । शब्द बदलते हैं प्रज्ञा नहीं । विश्वास पद्धत्तियाँ अनेक हैं, पर परमानन्द एक है । सिद्धांत अनेक हैं, पर भगवत्ता एक है । मत अनेक हैं, पर सत्य एक है। विचार अनन्त हैं, पर अन्तर्दृष्टि एक है ।

१६. बड़े व्यापारियों द्वारा मानवजाति के मुट्ठीभर लोगों के लिए किया जा रहा विवेकहीन व्यापार ही अधिसंख्यक लोगों द्वारा रोटी के लिए किये जा रहे अंतहीन परिश्रम का कारण है ।

१७. भ्रांति अर्थात् 'मैं' से अलग नहीं हुआ जा सकता किन्तु स्वयं के लिए और केवल स्वयं द्वारा ही उसे समझा जा सकता है । यह समझदारी ही भ्रांति को तिरोहित कर देती है ।

१८. स्व, व्यक्तित्व, आत्मा, अन्तरात्मा, मैं, चित्तवृत्ति, अहंकार इत्यादि की सम्पूर्ण सूची को एक धक्के से दूर कर दीजिए और फिर आपके पास कुछ नहीं बचता । तब अचानक चित्तवृत्ति में वह दिव्य विस्फोट हो सकता है जो सभी दुःखों एवं दुःखभोगों का नाश कर देता है ।

१६. कुछ लोग सोचते है कि ईश्वर का अस्तित्व है और अन्य सोचते हैं कि नहीं है । वैसे लोग दुर्लभ हैं जो ऐसा (इन दोनों में कोई भी) नहीं सोचते और वे ही सीमित चेतना की गन्दगी अर्थात् उत्तेजना एवं गड़बड़ी से मुक्त होते हैं । – आवक्र गीता (१८.४२)

२०. वे जो चाहना–पाना से मुक्त हो चुके हैं, अपने अन्दर स्वाध्याय रूपी विश्राम–स्थल पा लेते हैं और फिर उन्हें बर्हिजगत में किसी सहारे की आवश्यकता नहीं होती । (यथा–ईश्वर, ईश्वर–पुत्र, उद्धारक, पैगम्बर, शांतिदूत, संत, परी, रूह, जीन, सूक्ष्मशरीरी, देव, देवी, बाबाजी, माताजी, मामाजी, काकाजी इत्यादि।) आवक्र गीता (१८.४४)

२१. लक्ष्य, लालच और तुष्टीकरण की पराकाष्ठा अर्थात् ईश्वर की खोज–सभी का परित्याग कर दीजिए और इस तरह तेजस्वी और भक्त अर्थात् भगवत्तापूर्ण हो जाइये ।

२२. प्रत्यक्षबोध में रहें तथा सजग रहें । किसी से कोई भी ज्ञान उधार न लें, चाहे उसके पास उपाधि, ख्याति, पद्वी, दाढ़ी या जटा की लम्बाई और वेश–भूषा कुछ भी हो ।

२३. सभी जगहों पर ध्यान केन्द्र, भद्र दिखने लाले अभद्रों द्वारा संचालित आमोद–प्रमोद स्थल बन गये हैं । ध्यान प्रत्येक व्यक्ति विशेष में पुष्प के प्रस्फुटन की घटना है जबकि सामूहिक ध्यान माफिया को जन्म देता है।

२४. ध्यानशील चेतना चालाक नहीं, प्रज्ञा में होती है, चित्तविक्षेपों (सांसारिक आकषणों) में आकर्षित नहीं होती और न ही शांति की खोज में ध्यानकेन्द्रों या जंगलों में भटकती रहती है । यह हमेशा और हर स्थिति में शान्त होती है । इस स्थिति में न विचार होते हैं और न ही विचारहीनता । अनुभव शून्यता की इस स्थिति में न कोई उत्तेजना होती है और न ही स्थिरत्व ।

२५. निषेध की अवस्था वस्तुतः सुख–दुख आदि अवधारणामूलक विपरीत युग्मों से परे की अवस्था है और यह अवस्था किसी के भी विपरीत नहीं होती । निषेध की अवस्था विस्मृति या रिक्तता की स्थिति भी नहीं है । धुआँ शुद्ध हवा की उपस्थिति को भी रिक्तता की स्थिति मान सकता है । निषेध मुक्ति है। यह मानसिक सूचनाओं के पंजीकरण के प्रति मरना है और इस तरह पूर्णरूपेण अनासक्त हुआ जा सकता है ।

२६. शान्ति के अनुभव के बिना शान्ति में होना ही प्रबोध है । इसे अहंकार की चालाकीपूर्ण चालों से अशान्त नहीं किया जाना चाहिए ।

२७. एक मार्ग चित्तवृत्ति का है जो ''सफलता'' और ''प्रतिष्ठा'' की ओर ले जाता है । दूसरा मार्ग 'परम पवित्र' की ओर ले जाता है लेकिन वह किसी भी मानचित्र या पुस्तक में चिन्हित या वर्णित नहीं है और न ही इसे कभी किसी मानचित्र या पुस्तक में रखा जा सकता है । इस संदर्भ में प्रत्येक पूर्वनिर्धारित मार्ग एक गलत मार्ग होता है और इसका प्रारंभ में ही त्याग कर देना चाहिए क्योंकि यह विभेदकारी चित्तवृत्ति के षड्यंत्र के परिणामस्वरूप होता है ।

२८. जो आपके पास है वह आपकी रक्षा करेगा यदि उसे आपने स्वयं से प्राप्त किया है । – संत थॉमस

२६. सृष्टि के प्रारंभ में ब्रह्माण्ड पूर्ण एवं परमपवित्र चैतन्य की अनभिव्यक्त ऊर्जा था । – ऋग्वेद

३०. अखण्ड शरीरी चेतना पूर्णचैतन्य के साथ युक्त है । यह अत्यंत जीवन्त है तथापि इसका अनुभव, आकांक्षा, मनोरंजन और उत्तेजना से कुछ लेना–देना नहीं ।

३१. जो स्पष्ट है उसे देखें, विपरीत के खोज में न पड़ें । 'जो है' का प्रत्यक्षबोध करें न कि 'ऐसा होना चाहिए' का प्रक्षेपण। तथ्य के साथ रहें, कल्पना के साथ नहीं । वास्तविकता पर आधारित कार्य करें न कि पूर्वानुमान पर आधारित ।सजगता हो जीवनगति के प्रति न कि चित्तवृत्ति में स्थित किसी प्रयोजनापूर्ति हेतु युक्ति के प्रति । खण्ड चेतना के प्रति अन्तर्दृष्टि रखें और पूर्ण चैतन्य के प्रति कोई कल्पना न करें ।

३२. मन सोचता है, जबकि निर्मन जानता है। मन विक्षिप्त हो सकता है, जबकि निर्मन बुद्धत्व को प्राप्त होता है। विभेदकारी चित्तवृत्ति सोचती है, जबकि प्रशांति जानती है। महत्वाकांक्षा सोचती है, जबकि सजगता जानती है। चाहना और चिन्ता सोचती है, जबकि प्रज्ञा जानती है ।

३३. विविधता सर्जनात्मक है जबकि द्वैतता ध्वंसात्मक । विभेदकारी चित्तवृत्ति में दूरी, विभाजन और द्वैत की समाप्ति ही दिव्य चैतन्य का उदय है ।

'अहं' (वैयक्तिकता) अकेलापन है जबकि 'अस्तित्व' अद्वितीयता एवं सर्वव्यापकता दोनों को आत्मसात किये रखता है ।

'अहं' दर्प है, जबकि 'अस्तित्व' सजगता है ।
'अहं' अज्ञानता है, जबकि 'अस्तित्व' प्रज्ञा है ।
'अहं' संकल्प है, जबकि 'अस्तित्व' जागृति है ।

३३ निःशब्दता की दिव्य ध्वनियाँ ऊँ ऊँ को द्योतित करती हैं ।